भारतीय तत्त्व-चिन्तन में : जड़-चेतन का सम्बन्ध

□ मुनि समदर्शी, प्रभाकर

जगत का स्वरूप

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय, तत्त्व-चिन्तन एवं आगम—वेद-उपनिषद्, जैन-शास्त्र, और पालि-त्रिपिटक का सार एवं निष्कर्ष तीन शब्दों में आ जाता है—जीव, जगत और जगदीश्वर अर्थात् परमात्मा। सभी विचारकों ने संसार, संसार में परिभ्रमण के कारणों एवं उससे मुक्त होने के साधनों का प्रतिपादन किया है। संसार-बन्धन से सर्वथा मुक्त होना ही भारतीय चिन्तन का मुख्य उद्देश्य, ध्येय एवं लक्ष्य रहा है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक साहित्य में—भले ही वह जैन-परम्परा का हो, वैदिक-परम्परा का हो, बौद्ध-परम्परा का हो, और कितना ही विशाल क्यों न हो—ग्यारह अंग ही नहीं, चतुर्दश पूर्व-साहित्य को भी लें तो उनमें विभिन्न प्रकार से, विभिन्न दृष्टांतों, उदाहरणों, रूपकों एवं कथानकों के माध्यम से यही समझाने का प्रयत्न किया है, कि जीव और जगत अथवा आत्मा और संसार या जड़ और चेतन का क्या स्वरूप है, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, आत्मा का संसार में परिभ्रमण करने का क्या कारण है, और वह किस प्रकार आबद्ध बन्धन से मुक्त हो सकता है?

ये ही मूल प्रश्न हैं? जिनका समाधान सभी मनीषी विचारकों और प्रबुद्ध चिन्तकों ने अपने-अपने चिन्तन एवं अनुभव के अनुरूप करने का प्रयत्न किया है। उनके उन्हीं विचारों का संग्रह और संकलन आगम, उपनिषद् एवं त्रिपिटक-साहित्य में है। प्रस्तुत प्रकरण में हम यही विचार करेंगे, कि जीव और जगत, आत्मा और संसार, तथा जड़ और चेतन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विभिन्न विचारकों ने किस प्रकार से चिन्तन किया तथा उनके विचारों में कितना साम्य एवं कितना वैषम्य है। सभी विचारकों ने किसी न किसी रूप में जीव और जगत—दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। जड़ और चेतन के अस्तित्व से युक्त संसार को जगत कहा है।

सांख्य-दर्शन जगत में मुख्य रूप से दो तत्त्व मानता है—प्रकृति और पुरुष। न्याय-वैशेषिक-दर्शन आत्मा और परमाणु को मानता है। बौद्ध-दर्शन इसे नाम और रूप कहता है। जैन-दर्शन जीव और अजीव—इन दो द्रव्यों को ही मुख्य मानता है। इन दो द्रव्यों में षट्-द्रव्य आ जाते हैं—जीव अथवा आत्मा जीव-द्रव्य है ही, शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—पाँचों द्रव्य जीव से भिन्न अजीव हैं, अचेतन हैं, जड़ हैं। अद्वैत-वेदान्त-दर्शन केवल ब्रह्म की सत्ता को ही सत्य मानता है, अन्य किसी भी पदार्थ के अस्तित्व को सत्य स्वीकार नहीं करता। फिर भी प्रत्यक्ष में परिलक्षित होने वाले पदार्थों को झुठला नहीं सकता, इसलिए उसने माया की कल्पना की। कुछ भी हो जगत में द्वैत—दो तत्त्वों की सत्ता है, और द्वैत के आधार पर ही जगत एवं संसार आधारित है, टिका हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य-कारणवाद

भारतीय दर्शनशास्त्र एवं चिन्तन में यह स्वीकार किया है, कि कार्य कारण से उत्पन्न होता है। कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि बीज नहीं है, तो उसका कार्य वृक्ष भी नहीं होगा। इसलिए आचारांग सूत्र में श्रमण भगवान महावीर ने कहा कि यदि तुमको संसार रूप वृक्ष का उन्मूलन करना है, तो उसके पत्तों, डालियों एवं शाखाओं को नहीं, उसके मूल का नाश करना होगा।[१] संसार या कर्मबन्ध का मूल या बीज राग-द्वेष है। वही संसार परिभ्रमण का मूल कारण है। कारण के बिना कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता। जैसे घट कार्य है, तो मिट्टी उसका मूल कारण और कुम्भकार, चक्र आदि सहयोगी या निमित्त कारण है। अतः मिट्टी एवं कुम्भकार आदि का सद्भाव होने पर ही घट कार्यरूप में परिणत होता है। इसी प्रकार यह संसार, यह विराट् जगत और विशाल सृष्टि भी एक कार्य है, इसलिए इसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए।

वद-युग

इस विचित्र जगत को देखकर वैदिक ऋषियों के मन में इसके मूल कारण एवं सृष्टा को जानने की जिज्ञासा उद्बुद्ध हुई। उन्होंने अपने-अपने चिन्तन के अनुरूप विभिन्न कारणों की कल्पना की। किसी ने जल को, किसी ने अग्नि को और किसी ने वायु को जगत का मूल कारण माना उनकी मान्यता के अनुसार सर्वप्रथम जल या अग्नि या वायु ही था, और धीरे-धीरे उसी मूल तत्त्व से सब पदार्थ बने। वेद-युग में हम देखते हैं कि विचारकों का चिन्तन प्रकृति की शक्तियों तक ही सीमित-परिमित रहा। उन्होंने इन प्राकृतिक शक्तियों को ही सब कुछ मान लिया और उन्हें देवत्व के स्थान पर बैठाकर अपने संरक्षण एवं विकास के लिए उनसे प्रार्थना करने लगे। यह सत्य है, कि वेदयुग में ही अनेक देवों का स्थान एक शक्ति ने ग्रहण कर लिया था। ऋग्वेद में यह उल्लिखित है कि जगत का मूल कारण एक तत्त्व है। उस एक तत्त्व को मनीषी एवं विद्वान अग्नि, जल, वायु आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। उसके बाद प्रजापति की कल्पना की, और उसी को सृष्टि का मूल कारण और सृष्टा स्वीकार कर लिया।

उपनिषद्-युग

उपनिषदों में विभिन्न विचारकों के मतों का उल्लेख किया गया है। अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों को मूल तत्त्व मानने का भी उल्लेख उपनिषदों में है। परन्तु चिन्तन की गहराई में उतरने पर उपनिषद्-युग के ऋषियों ने ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया। कठोपनिषद् में कहा गया, कि यह जगत अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष है। जिसका मूल उर्ध्व में है, और शाखाएं नीचे की ओर हैं। यह विचित्र संसार-वृक्ष सनातन है, शाश्वत है और इसका जो मूल है—वही ब्रह्म है, विशुद्ध ज्योतिस्वरूप तत्त्व है और अमृत है।[२] सम्पूर्ण लोक या जगत उसी में आश्रित है, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वही जगत का मूल तत्त्व एवं मूल कारण है, जिसमें से जगत अस्तित्व में आया है। आचार्य शंकर ने भी जगत को ब्रह्म का विवर्त्त कहा है। परन्तु उपनिषदकार ने स्पष्ट लिखा है—इस आत्मा से सर्वप्राण, सर्वलोक और सर्वभूत जिसमें प्रकट होते हैं, उस आत्मा का रहस्य सत्य का सत्य है, परम सत्य है।[3] उपनिषद् की दृष्टि से जिस जगत में रहकर हम जीवन-यात्रा करते हैं, वह जगत हमारे अपने अस्तित्व के समान ही सत्य है। जैन-दर्शन भी जगत को

---

१ अग्गं मूलं च छिंदइ। —आचारांग

२ कठोपनिषद्, २, ३, १; गीता १५, १।

३ वृहदारण्यक उपनिषद्, २, १, २०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य मानता है परन्तु वह उसे ब्रह्म से उद्भूत नहीं मानता। उपनिषद् के अनुसार जगत ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और पुनः ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है। जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है, और पुनः उसे निगल जाती है। जैसे पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, सजीव पुरुष से केश-लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर-ब्रह्म से यह जगत उत्पन्न होता है। जैसे निरन्तर प्रवहमान सरिताएँ अपने नाम-रूप का परित्याग करके समुद्र की अनन्त जलराशि में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान लोग अपने नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य-पुरुष अथवा पर-ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।[१]

उपनिषद् की मान्यता के अनुसार ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। दर्शन-शास्त्र में कार्य-कारण भाव दो प्रकार का है—भिन्ननिमित्तोपादान कारण और अभिन्ननिमित्तोपादान कारण। जैसे घट कार्य की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान कारण है और कुम्भकार आदि निमित्त कारण हैं और दोनों कारण एक-दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु जगत की उत्पत्ति में निमित्त कारण भी ब्रह्म है और उपादान कारण भी ब्रह्म है, इसलिए इसे अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहा है।

सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक-दर्शन

ये चारों दर्शन वैदिक-दर्शन हैं। फिर भी वे परमात्मा और ब्रह्म को जगत का कारण नहीं मानते। वे आचार्य शंकर की तरह जगत को माया रूप, भ्रान्त, असत्य, मिथ्या और ब्रह्म का विवर्त्त भी नहीं मानते। सांख्य-दर्शन जगत में मूल तत्त्व दो मानता है—पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन है, कूटस्थ है, अपरिणामी है, अकर्त्ता है और शुद्ध है। प्रकृति जड़ है, क्षणिक है, परिणामी है, कर्त्ता है, भोक्ता है और विकारों से युक्त है। जगतरूप कार्य का कारण पुरुष नहीं, प्रकृति है। पुरुष प्रकृति के संयोग से अथवा प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण जगत में परिभ्रमण करता है, परन्तु बन्ध और मोक्ष प्रकृति में ही होता है, पुरुष में नहीं; क्योंकि वह तो स्वभाव से ही मुक्त है। जगत के सम्बन्ध में यही विचार योग दर्शन के हैं।

न्याय-वैशेषिक-दर्शन परमाणुवादी है। वह जगत में जड़ और चेतन—दोनों को मूल तत्त्व मानता है, फिर भी आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। उसकी मान्यता के अनुसार गुण द्रव्य से भिन्न हैं, वे द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इसलिए उनमें होने वाले परिणमन से आत्मा में विकृति नहीं आती। वह पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु आदि के परमाणुओं को पृथक्-पृथक मानता है और उनसे ही जगत एव जगत के पदार्थों की उत्पत्ति मानता है। जगत का उपादान कारण पृथ्वी आदि के अपने-अपने परमाणु हैं। जैसे—घट का उपादान कारण मिट्टी के परमाणु हैं और सरिता का उपादान कारण जल के परमाणु। जैन-दर्शन भी परमाणुवाद को मानता है, परन्तु वह मिट्टी, जल, अग्नि, वायु आदि के परमाणुओं को भिन्न-भिन्न नहीं मानता। जैसा संयोग मिलता है उसी के अनुरूप परमाणु बन जाते हैं। मिट्टी के परमाणु कालान्तर में जल के प्रवाह में पानी का रूप ले लेते हैं और पानी के परमाणु कालान्तर में मिट्टी का रूप ले लेते हैं। वैज्ञानिक भी परमाणु की परिवर्तित होती हुई स्थिति को स्वीकार करते हैं।

अवैदिक-दर्शन

चार्वाक-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन—ये तीनों दर्शन अवैदिक हैं। तीनों वेद-प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं रखते। इनमें चार्वाक-दर्शन एकान्त भौतिकवादी है। वह जगत की उत्पत्ति भूतों से मानता है। उसके विचार से जगत में एक मात्र

---

१ मुण्डक उपनिषद्, १, १, ७ और ३, २, ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौतिक-तत्त्व या भूत ही मौलिक तत्त्व है या मूल तत्त्व है। भूत-तत्त्व से भिन्न चेतन का कोई अस्तित्व नहीं है।

बौद्ध-दर्शन नाम और रूप अथवा विज्ञान को ही जगत का मूल कारण मानता है। उसके विचार में कोई भी पदार्थ—भले ही वह चेतन हो या जड़, स्थायी नहीं है, नित्य नहीं है। जगत में जो कुछ है, वह सब क्षणिक है, अनित्य है। उनकी व्याख्या के अनुसार सत् वही है, जो क्षणिक है, और सरिता के प्रवाहवत् प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए प्रवहमान रहता है।

जैनदर्शन

जैन-परम्परा में श्रमण भगवान महावीर के पूर्व और भगवान महावीर तथा उनके अनन्तर आचार्यों ने जगत में मुख्य रूप से दो राशि, दो तत्त्व, दो पदार्थ, या दो द्रव्य माने हैं—जीव और अजीव, आत्मा और पुद्गल अथवा जड़ और चेतन। जैन-दर्शन जगत को माया रूप एवं मिथ्या नहीं मानता। वह तो उसे उतना ही सत्य मानता है, जितना आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को। उसके विचार में सभी द्रव्य सत् हैं। सत् वह है, जो न तो एकान्त रूप नित्य या कूटस्थ नित्य है, और न एकान्त रूप से अनित्य—क्षणिक है। वस्तुतः जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।

द्रव्य की परिभाषा ही यह है, कि अपने मूल स्वरूप में अथवा द्रव्यरूप में स्थित रहते हुए द्रवित होते रहना अपनी पर्यायों में परिणमन करते रहना। क्योंकि वह गुण और पर्याय से युक्त होता है और वह गुण एवं पर्यायों से अभिन्न भी है। क्योंकि गुण और पर्यायें सदा गुणों एवं द्रव्य में ही रहती है। गुण एवं पर्याय से शून्य द्रव्य और द्रव्य से रहित गुण-पर्याय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ज्ञान आत्मा का गुण है और शुद्ध एवं अशुद्ध या सम्यक् एवं मिथ्या या क्षायोपशमिक एवं क्षायिक आदि ये ज्ञान की पर्यायें हैं। लोक में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो ज्ञान से सर्वथा रहित हो, और उसमें शुद्ध या अशुद्ध, सम्यक् या मिथ्या, क्षायोपशमिक या क्षायिक ज्ञान की कोई भी पर्याय न हो। पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, परन्तु पर्यायों के बदलने पर भी द्रव्य का मूल स्वरूप कभी नहीं बदलता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, उसका निज गुण है। वह नित्य है, सदा रहेगा ही—भले ही वह सम्यक् रहे या मिथ्या रहे। हम प्रतिदिन देखते हैं कि नदी के प्रवाह में प्रवहमान जल कण अपने स्थान से आगे की ओर बह जाते हैं और नये जल कण उसका स्थान ले लेते हैं, परन्तु नदीत्व—जो नदी का स्वभाव है, वह प्रवाह में भी सदा बना रहता है। इसलिए द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। इस प्रकार जैन-दर्शन जगत को परिणामी नित्य मानता है—वह न उसे कूटस्थ नित्य मानता है, और न एकान्त क्षणिक ही।

जैन-दर्शन का यह दृढ़ विश्वास है, कि जगत अनादि अनन्त है। इसे न किसी ने बनाया है और न कोई इसे बना सकता है, यह तो स्वभाव से है। यह न तो प्रजापति की रचना है, न ब्रह्मा का बनाया हुआ है, और न ब्रह्म का विवर्त्त ही है। जीव और अजीव अथवा आत्मा और पुद्गल के संयोग सम्बन्ध का परिणाम है। दोनों द्रव्यों का संयोग सम्बन्ध संसार है, और आत्मा से पुद्गलों का वियोग हो जाना ही मोक्ष है। इसलिए संसार एवं जगत में दो ही तत्त्वों की मुख्यता है।

जड़-चेतन का बन्ध

आत्मा और पुद्गल—दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं, स्वतन्त्र द्रव्य हैं। फिर दोनों में बन्ध कब, क्यों और कैसे हुआ? इस सम्बन्ध में वेदों में कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु आर्यों के आगमन के पूर्व अथवा वेदों की रचना के पूर्व भारत में अवैदिक चिन्तन की धारा प्रवहमान थी। उस समय उसका नाम श्रमण, मुनि या निर्ग्रन्थ-परम्परा या कुछ और भी रहा हो, पर आज वह जैन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा के नाम से विश्रुत है। उसकी प्रारम्भ से ही यह मान्यता रही है, कि न केवल जड़ पदार्थ ही बन्ध का कारण है, और न अकेला चेतन आत्मा ही। पुद्गल—जड़ पदार्थ का शुद्ध रूप परमाणु है। जब तक परमाणु अपने शुद्ध रूप में रहता है, तब तक वह कर्म-बन्ध के योग्य नहीं होता है। आत्मा भी अपने स्वरूप में स्थित रहता है, अपने शुद्ध स्वभाव में परिणमन करता है, तब बन्ध नहीं करता। अतः अपने शुद्ध स्वभाव में एवं शुद्ध स्वरूप में स्थित पुद्गल और आत्मा दोनों ही बन्ध के योग्य नहीं है। जब पुद्गल अपने शुद्ध स्वरूप परमाणु रूप न रहकर परमाणुओं के संयोग से बने स्कन्ध की विभाव दशा में परिणत होता है, तब वह बन्ध की योग्यता प्राप्त करता है अथवा कार्मण-वर्गणा की संज्ञा को प्राप्त होता है। आत्मा भी जब स्वभाव से विभाव में परिणत होता है, तब कर्म से आबद्ध होता है। अतः बन्ध स्वभाव में नहीं, विभाव-दशा में होता है और कर्म प्रवाह की अपेक्षा से वह अनादि है—उसकी आदि नहीं है। अनन्त-अनन्त काल से उसका प्रवाह चला आ रहा है। एक कर्म अपना फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग होता है, तो दूसरा उसका स्थान ले लेता है। इस प्रकार उसका प्रवाह टूटने नहीं पाता।

बन्ध और मोक्ष

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने वाले तथा उसे शरीर आदि जड़ पदार्थों से सर्वथा भिन्न मानने वाले सभी भारतीय विचारकों ने बन्ध और मोक्ष को स्वीकार किया है। तथागत बुद्ध क्षणिकवादी हैं और अनात्मवादी भी कहे जाते हैं, फिर भी वे आत्मा के बन्ध, मोक्ष एवं पुनर्जन्म को मानते हैं। सभी विचारकों ने अविद्या, मोह, अज्ञान, मिथ्या ज्ञान और मिथ्यात्व को कर्म-बन्ध एवं संसार-परिभ्रमण का कारण माना है, और विद्या, तत्त्व-ज्ञान, सम्यक्ज्ञान और स्व-स्वरूप के बोध—सम्यक्त्व को मोक्ष का, मुक्ति का एवं निर्वाण का कारण माना है।

कठोपनिषद् में कहा है—श्रेयस् और प्रेयस् दो मार्ग हैं और एक-दूसरे से भिन्न एवं विपरीत हैं। विषय-जन्य इन्द्रिय-सुख तथा भौतिक-सुख-साधनों की प्राप्ति का मार्ग जो है, वह प्रेयस् है, और आध्यात्मिक-साधना, तत्त्व-ज्ञान, आत्म-चिन्तन का, जो मार्ग है, वह श्रेयस्-पथ है। प्रेयस् के साथ बाह्य आकर्षण, अनुराग एवं ममत्व का भाव जुड़ा हुआ है और श्रेयस् के साथ समभाव एवं स्वभाव रमण का भाव संबद्ध है। आधुनिक नीति-शास्त्र (Ethics) में इन उभय दृष्टियों को—The end as pleasure (Hedonism—ऐन्द्रिक-सुखवाद) और The end as good (आत्म-आनन्दवाद) कहा है। योग-सूत्र भाष्य में कहा है—चित्त नदी की दो धाराएँ हैं—एक सुख मार्ग की ओर बहती है, और दूसरी कल्याण के मार्ग की ओर अथवा एक इन्द्रिय-जन्य भोगों की ओर बहती है, और दूसरी अध्यात्म-साधना की ओर। बुद्धिमान एवं विवेकशील साधक का कर्तव्य है, कि वह द्वितीय मार्ग का अवलम्बन करे।[१] क्योंकि जो विषय भोगों में तृप्त होकर परम शान्ति एवं आनन्द पाने की कामना रखता है, वह लोलुप व्यक्ति अतृप्त रहता है और दुःख को ही प्राप्त करता है। इन्द्रिय-भोग व्यक्ति को तृष्णा से रहित नहीं करते।[२]

श्रमण भगवान महावीर ने यही बात कही है—संसार के कामभोग, इन्द्रिय-जन्य वैषयिक-सुख एवं भौतिक-सुख-साधन शल्य हैं, विष हैं, और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। जो काम-भोगों की इच्छा एवं आकांक्षा तो रखते हैं, किन्तु परिस्थितिवश उनका भोग एवं सेवन नहीं कर पाते, वे भी दुर्गति में जाते हैं।[३] वास्तव में तृष्णा की आग कभी शान्त नहीं होती। वह आकाश की

१ योग-सूत्र, व्यास भाष्य, १,१२
२ वही, २,१५
३ उत्तराध्ययन सूत्र, ९,५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं आता, अथवा वह कदापि परिपूर्ण नहीं होती।[1] ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ, तृष्णा एवं आकांक्षा बढ़ती है।[2] इसलिए राग और द्वेष अथवा आसक्ति कर्म-बन्ध का मूल कारण है।[3] और वीतराग भाव, अनासक्ति एवं स्व-स्वभाव में परिणमन कर्म-बन्धन से मुक्त होकर परम आनन्द एवं परम सुख को प्राप्त करने का मूल कारण या श्रेयस् पथ है। इसलिए प्रबुद्ध-साधक वह है, जो भेद-विज्ञान के द्वारा स्व-स्वरूप का बोध करके विवेक पूर्वक निःश्रेयस्-पथ पर गति करता है।

अज्ञान का स्वरूप

बन्ध का कारण अज्ञान है। अनात्म अथवा जड़ पदार्थों में आत्म-बुद्धि रखना और आत्मा में अनात्म भाव रखना अथवा जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उसे उसके विपरीत मानना एवं समझना, अज्ञान एवं अविद्या है। आत्मवादी विचारकों के अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र, पृथ्वी आदि भूत तत्त्वों से निर्मित भौतिक शरीर से सर्वथा भिन्न शाश्वत द्रव्य है। अतः भौतिक शरीर, इन्द्रिय, प्राण एवं मन आदि को आत्मा मानना मिथ्या-ज्ञान है। तथागत बुद्ध किसी स्वतन्त्र एवं शाश्वत द्रव्य को स्वीकार नहीं करते। फिर भी तथागत इस बात को स्वीकार करते हैं, कि शरीर आदि जड़ पदार्थों में आत्म-बुद्धि रखना मिथ्या-ज्ञान या मोह है।[4] छान्दोग्य उपनिषद् में शरीर आदि अनात्म पदार्थों को आत्मा स्वीकार करने को असुरों का ज्ञान कहा है।[5] न्याय-दर्शन में मिथ्या-ज्ञान का अपर (दूसरा) नाम मोह है। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, वेदना और बुद्धि—इन अनात्म पदार्थों में आत्माग्रह रखना—यह मैं ही हूँ, ऐसी आग्रह बुद्धि मोह है।[6] वैशेषिक-दर्शन की भी यही मान्यता है। सांख्य-दर्शन में विपर्यय को अज्ञान कहा है—**ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम्।** वह इससे तीन प्रकार का बन्ध स्वीकार करता है—१. प्रकृति को पुरुष मानकर उसकी उपासना करना—प्राकृतिक-बन्ध, २. भूत, इन्द्रिय, अहंकार, बुद्धि आदि विकारों को पुरुष मानकर उसकी उपासना करना—वैकारिक-बन्ध, और ३. इष्ट आपूर्त अथवा मन एवं इन्द्रियों को अभीष्ट लगने वाले भोगों की पूर्ति में संलग्न रहना—दाक्षणिक-बन्ध है।[7] योग-दर्शन में विपर्यय के स्थान पर क्लेश शब्द का प्रयोग किया है। अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख और आत्म-बुद्धि रखना क्लेश है।[8] जैन-परम्परा में कषाय और योग (मन, वचन और काय के व्यापार) को बन्ध का कारण माना है। अनन्तानुबन्धी कषाय अज्ञान अवस्था में रहता है। इसलिए इसका विस्तार करके मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग को बन्ध का कारण स्वीकार किया। अन्य दर्शनों में मिथ्यात्व को मिथ्या-ज्ञान, अज्ञान, अविद्या और विपर्यय तथा क्लेश कहा है। उत्तराध्ययन सूत्र एवं स्थानांग सूत्र में राग-द्वेष एवं मोह को कर्म-बन्ध का कारण कहा है।[9] राग-भाव में माया और लोभ तथा द्वेष-भाव में क्रोध और मान समाविष्ट हो जाता है। राग

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ९,४८
२ वही, ८,१७
३ वही, ३२,७
४ विसुद्धि मग्गो, १७,३०२, सुत्तनिपात्त, ३,१२,३३
५ छान्दोग्य उप०, ८,८,४-५
६ न्याय-दर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य, ४,२,१
७ सांख्यकारिका—माठर वृत्ति, और सांख्य तत्त्व कौमुद्री, ४४
८ योग-दर्शन, २.३ से ५
९ उत्तराध्ययन सूत्र, २१.१९; २३.४३; २८.२०; २९.७१ और ३२.७; स्थानांग सूत्र २.२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और द्वेष के मूल में तृष्णा एवं मोह रहता ही है, इस बात को अन्य दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं।

इससे हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि भारतीय-तत्त्व-चिन्तन में अविद्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, विपर्यय, क्लेश को बन्ध का कारण माना है। जब तक आत्मा में अनात्म बुद्धि और अनात्मा में आत्म-भावना बनी रहेगी, भेद-विज्ञान के द्वारा स्व-पर के यथार्थस्वरूप का बोध नहीं होगा, तब तक संसार-बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती।

मोक्ष के कारण

प्रायः सभी विचारक अज्ञान और अविद्या को बन्ध का कारण मानते हैं। तृष्णा एवं मोह को भी अविद्या का सहायक मानकर उसे भी बन्ध का हेतु मानने में सहमत हैं। परन्तु मोक्ष एवं निर्वाण के कारण तथा मुक्ति की साधना के सम्बन्ध में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारक केवल तत्त्व-ज्ञान को ही मुक्ति का हेतु मानते हैं और कुछ सिर्फ क्रिया-काण्ड को ही मोक्ष का मूल कारण स्वीकार करते हैं तथा कुछ विचारक दोनों की समन्वित साधना को ही मोक्ष-मार्ग मानते हैं।

उपनिषद् में तत्त्वज्ञान को, ब्रह्म-ज्ञान को तथा आत्म-ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु माना है। कर्म-काण्ड एवं उपासना को गौण स्थान दिया है। वेद-विहित कर्म-काण्ड एवं यज्ञ-ज्ञाग को तो स्पष्ट शब्दों में संसार का कारण कहकर उनकी उपेक्षा की है। बौद्ध-दर्शन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और शांकर वेदान्त (अद्वैतवाद) में भी तत्त्व-ज्ञान को मुख्य कारण माना है, और उपासना को गौण माना है।

ब्रह्म-सूत्र के भाष्यकार आचार्य रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि भक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भगवान की भक्ति को ही मुक्ति का श्रेष्ठतम साधन मानते हैं, तत्त्व-ज्ञान को गौण-साधन मानते हैं। आचार्य भास्कर और शैव—ज्ञान और कर्म दोनों को मुक्ति का मार्ग मानते हैं।

पूर्वमीमांसा मुख्य रूप से क्रिया-काण्ड प्रधान है। वह वेद विहित कर्म-काण्ड, यज्ञ-याग आदि वैदिक क्रियाओं को ही मुक्ति का हेतु मानते हैं, तत्त्व-ज्ञान को नहीं।

गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनों को मोक्ष का कारण स्वीकार किया है। इसमें अनासक्ति-योग पर अधिक बल दिया है। कर्म करो, परन्तु फल की इच्छा मत रखो—यही गीता का अनासक्ति-योग है।

जैन-दर्शन न एकान्त रूप से तत्त्वज्ञान से, न एकान्त रूप से कर्मयोग (चारित्र) से और न एकान्त रूप से भक्ति-योग (श्रद्धा) से मुक्ति मानता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र अथवा सम्यक्-ज्ञान-योग, भक्ति-योग एवं कर्मयोग की समन्वित साधना से ही आत्मा बन्धन से मुक्त हो सकता है। बौद्ध-परम्परा में इसके लिए प्रज्ञा, शील और श्रद्धा शब्दों का प्रयोग मिलता है। जैन-परम्परा में इन तीनों को त्रि-रत्न या रत्न-त्रय कहा है और इनकी अलग-अलग की गई साधना को नहीं, प्रत्युत समन्वित साधना को मोक्ष-मार्ग कहा है।[1] रत्न-त्रय आत्मा का स्वभाव है, अतः इनकी पूर्णता को प्रकट करना अथवा निरावरण होना ही मोक्ष है।

☆

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र १।१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन संस्कृति में—
अहिंसा के इतिहास की सुनहरी कड़ियाँ

☐ श्री गणेशमुनि शास्त्री

जब मानव समाज में आसुरीवृत्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, और हिंसा का विप्लव होने लगता है उस समय इस आर्यभूमि पर दिव्य दृष्टि वाले किसी न किसी नरपुंगव का जन्म होता है। वह नरपुंगव अपने प्रभास्वर व्यक्तित्व के द्वारा समाज में फैली हुई आसुरीवृत्ति का दमन करता है।

धरती का आदिमानव जब गड़बड़ाने लगा—संघर्ष और आक्रमण बढ़ने लगे, मनुष्य के मन में हिंसा-प्रतिहिंसा की भावनाएँ जाग्रत होने लगीं, उस समय में अहिंसा के आद्य प्रणेता भगवान् ऋषभदेव ने अवतरित होकर मानव जाति के अव्यवस्थित जीवन को यथावत् मर्यादित एवं संस्कारित किया। कृषि के माध्यम से अन्नाहार का आविष्कार किया। क्रियात्मक अहिंसा के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण आलेख है। डा० कामताप्रसाद जैन ने 'विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा' शीर्षक निबन्ध में तीर्थंकर कालीन हिंसा-अहिंसा के विकास का ब्यौरा देते हुए बतलाया है कि............"भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् कालक्रम से २३ तीर्थंकर हुए हैं। वे भी अहिंसा धर्म के प्रचारक थे। ऋषभदेव से १८ तीर्थंकरों पर्यन्त अहिंसा धर्म का प्राबल्य रहा। किन्तु तीर्थंकर मल्ली और मुनिसुव्रत के काल में यहाँ आसुरी-वृत्ति का श्रीगणेश हुआ। असुरों ने आकर अहिंसक ब्राह्मणों को भगाकर पशु यज्ञ करने की कुप्रथा को जन्म दिया, तभी से यहाँ हिंसा-अहिंसा का द्वन्द्व चला।"[१]

सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ ने मेघरथ राजर्षि के भव में एक कपोत की प्राणरक्षा कर विश्व को अहिंसा-प्रेम का पाठ पढ़ाया। मौत के मुख से किसी प्राणी को बचाना यह धर्म का उच्च आदर्श है। प्रस्तुत आदर्श के संरक्षणार्थ ही राजर्षि ने अपने शरीर के मांस को काटकर क्षुधा-पीड़ित व्याध को अर्पण कर दिया, किन्तु शरणागत कपोत की उपेक्षा नहीं की। करुणा के उस मसीहा ने प्राणों की ममता त्यागकर भी कपोत की जान बचाई।

प्रस्तुत घटनाचक्र में मांसाहार का निषेध और अहिंसा धर्म की पुष्टि के ही संदर्शन होते हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि का जीवन तो अहिंसा के इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ रहा है। उन्होंने अपने विवाह प्रसंग पर होने वाले पशु-वध से दयार्द्र होकर सदा-सदा के लिए विवाह से ही मुख मोड़ लिया।[२] प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी ने 'जैन संस्कृति का अन्तर्हृदय' शीर्षक निबन्ध में भगवान् नेमिनाथ के जीवन तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"एक समय था जबकि केवल

---

१ गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० सं० ४००

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षत्रियों में ही नहीं, पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्यप्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षियों का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ाना। उस युग में यादव-जाति के प्रमुख राजपुत्र नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के लिए कत्ल किए जाने वाले निर्दोष पशु-पक्षियों की अति मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियों का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र लौट आए, द्वारिका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवय में विवाहार्थ प्रस्तुत सुन्दर राजकन्या का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी वध की प्रथा पर आत्म दृष्टान्त से इतना प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तों में भी वह प्रथा नाम शेष हो गई। वह परम्परा वर्तमान में चलने वाली पिंजरा पोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित होगई।"[1] यदुकुमार नेमिनाथ के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिंसा तत्त्व को विकसित करने के लिए एक दूसरा नया ही कदम उठाया। पञ्चाग्नि जैसी तामस-तपस्या का खण्डन करते हुए प्रभु ने बतलाया कि वह तपस्या किसी काम की नहीं, जिसमें अनेकों सूक्ष्म व स्थूल प्राणियों के जल जाने का कोई ज्ञान ही नहीं रहता। सद्-असद् का कोई भान ही नहीं होता। ऐसी हिंसाजन्य तपस्या, तपस्या नहीं, निरा देह दण्ड है, उसमें आत्म-विकास की कोई गुंजाइश नहीं है। इतना ही नहीं, प्रभु ने जन समाज को पाखण्ड धर्म से सावधान किया और वास्तविक धर्म से परिचित करा कर जीवन के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा। इस प्रकार धर्मक्षेत्र में सदियों से फैले हुए अज्ञान तिमिर को दूर कर विवेक के प्रकाश से अहिंसा तत्त्व को जगमगाया।

यद्यपि सर्प की घटना को लेकर भगवान् पार्श्वनाथ को कमठ तापस व उनके अनुयायियों का कोप पात्र बनना पड़ा, फिर भी उन्होंने उसकी तनिक भी परवाह नहीं की, और हिंसाजन्य अज्ञान-तप की जड़ ही उखाड़ डाली। यह भगवान् पार्श्वनाथ की अपूर्व देन है कि आज भी जैन धर्म या उससे प्रभावित क्षेत्र में सर्पों के प्रति करुणा की वर्षा बरसती हुई दिखलाई पड़ती है, मानव सर्पों को नाग देवता के रूप में पूजने लगा है।

भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा विकसित अहिंसा की भावना ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर को विरासत में प्राप्त हुई। भगवान् महावीर और बुद्ध के युग का इतिहास तो बड़ा ही विचित्र रहा है जब भारत के धर्मक्षेत्रों में यज्ञ-यागादि के नाम पर पशुबलि और दास-प्रथा के रूप में शोषण का दौर चल रहा था, स्वार्थी धर्मान्ध व रस-लोलुप व्यक्ति हिंसा को विशेष प्रोत्साहित कर रहे थे। **"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"**, **"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः"**, **"स्वर्गकामो यजेत"** आदि-आदि सूत्रों का निर्माण कर धर्म के नाम पर पशुओं का बेरहमी से बध किया जाता था। इस नृशंस-हिंसा को वे अहिंसा का चोगा पहना देते थे। हिंसा, अहिंसा का नकाब पहनकर खुले आम जनता के सम्मुख आने लगी। मानव के द्वारा मानव का तिरस्कार और अपमान देखकर वस्तुतः मानवता अपमानित होने लगी, वह हजार-हजार आँसुओं से सिसक उठी। उस समय भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने अहिंसा में नये प्राण और नई चेतना का स्पन्दन भरने के लिए सम्पूर्ण मानव जाति को दया और करुणा का दिव्य-सन्देश दिया। सारे समाज में अहिंसक क्रान्ति की व्यापक लहर पैदा की। इतना ही नहीं, अपने धर्म-प्रवचनों में खुल्लम-खुल्ला आम प्रचलित यज्ञों का खण्डन करते हुए कहा—"धर्म का सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से है, मूक पशुओं का रक्त बहाने में धर्म कहाँ है ? यह तो आमूलचूल भयंकर भूल है, पाप है। जब आप किसी मरते जीव को जीवन नहीं

---

१ दर्शन और चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दे सकते, तो उसे मारने का आपको क्या अधिकार है ? पैर में लगा जरा-सा काँटा जब हमें बेचैन कर देता है, तो जिनके गले पर छुरियाँ चलती हैं, उन्हें कितना दुःख होता होगा ? यज्ञ करना बुरा नहीं है। वह अवश्य होना चाहिए। परन्तु ध्यान रखो कि वह विषय-विकारों के पशुओं की बलि से हो, न कि इन जीवित देहधारी मूक पशुओं की बलि से। सच्चे धर्म यज्ञ के लिए आत्मा को अग्निकुण्ड बनाओ, उसमें मन-वचन और काया के द्वारा शुभ प्रवृत्ति रूप घृत उँडेलो। अनन्तर तप-अग्नि के द्वारा दुष्कर्म का ईंधन जलाकर शान्ति रूप प्रशस्त होम करो।"[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने हिंसात्मक यज्ञों का विरोध कर अहिंसा-तप आदि रूप यज्ञों का निरूपण किया तथा प्रचलित मांसाहार का सबल स्वर में घोर विरोध किया। विरोध की आवाज इतनी प्रचण्ड थी कि स्वार्थी-धर्मान्ध व्यक्ति अपने स्वार्थों पर होने वाले आघातों से आहत होकर कुछ समय के लिए कुलबुला उठे। किन्तु शान्ति के इस महान् देवदूत की एकाग्र तपस्या व उसकी अहिंसा परायण निष्ठा के सम्मुख एक दिन उन्हें नतमस्तक होना पड़ा। परिणामतः जो व्यक्ति मांस व यज्ञ प्रिय थे, उनके शुष्क हृदयों में करुणा का अजस्र-स्रोत प्रवाहित हो उठा।

भगवान् महावीर और बुद्ध के पश्चात् तो अहिंसा भावना की जड़ भारत के मानस में इतनी अधिक गहरी जमी कि समस्त भारतीय धर्म का वह हार्द बन गई। तात्कालिक बड़े-बड़े प्रभावशाली ब्राह्मणों व क्षत्रियों को उसने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सामाजिक, धार्मिक आदि उत्सवों में भी अहिंसा ने अपना प्रभाव जमा लिया। सर्वशान्ति का साम्राज्य फैल गया। भगवान् महावीर ने विश्व को जो अनेक प्रकार की देन दी हैं, उनमें यह अहिंसा सम्बन्धी देन सर्वोपरि है।

भगवान् महावीर तथा बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अहिंसा और करुणा तत्त्व को सम्राट् चन्द्रगुप्त, अशोक तथा उसके पौत्र संप्रति ने और अधिक प्रतिष्ठित एवं व्यापक बनाया, इतिहास इसका साक्षी है। कलिंग युद्ध में नर-रक्त को बहते देखकर अशोक का हृदय करुणार्द्र हो उठा, और उसने भविष्य में युद्ध न करने का संकल्प कर लिया। अशोक ने अहिंसा और करुणा के सन्देश को शिलालेखों द्वारा स्थान-स्थान पर उत्कीर्ण कराके प्रचारित किया। अशोक के पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने अहिंसा की भावना को अपने अधीन राज्यों तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् राज्यों के सीमावर्ती-प्रदेशों में भी दूर-दूर तक फैलाकर उसका प्रबल प्रचार किया। बारहवीं सदी में आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरपति सिद्धराज को अहिंसा की भावना से प्रभावित कर एक बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित किया। सिद्धराज के राज्य में जहाँ देवी-देवताओं के समक्ष नानाविध हिंसाएँ होती थीं, वे हिंसाएँ सब रुक गईं। सिद्धराज का उत्तराधिकारी महान् सम्राट कुमारपाल भी अहिंसा में पूर्ण निष्ठा रखता था। उसने अहिंसा भावना का जितना विस्तार किया वह इतिहास में बेजोड़ है। उनकी दयार्द्र वृत्ति के लिए एक सुप्रसिद्ध जनश्रुति है कि—'कुमारपाल अपने राज्य के अश्वों को पानी भी छान-छानकर पिलाया करता था।' उसकी "अमारि-घोषणा" अत्यन्त लोकप्रिय बनी, जो अहिंसा भावना की एक विशिष्ट द्योतक थी।

अहिंसा भावना के प्रचार में जहाँ अनेकों वरिष्ठ व्यक्तियों के हाथ अग्रसर रहे हैं, वहाँ निर्ग्रन्थ परम्परा के श्रमणों का भी इसमें विशेष श्रेय रहा है। वे हिमालय से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक पद यात्रा करके, अनेक मुसीबतों व अनेक कष्टों को झेलकर, जन-जन को

---

१ तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

—उत्तराध्यन सूत्र, अ० १२, गा० २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का अमृत बाँटते रहे हैं। उनके अन्तर में प्रेम-पीयूष उड़ेलते रहे हैं। अगणित व्यक्तियों को हिंसा-जनित माँस-मदिरा के व्यसनों का परित्याग करवाकर उन्हें धर्माभिमुख किया है।

जैसे शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर मठ स्थापित करके ब्रह्माद्वैत का विजय स्तम्भ रोपा है, वैसे ही महावीर के अनुयायी अनगार निर्ग्रन्थों ने भारत जैसे विशाल देश के चारों कोनों में अहिंसाद्वैत की भावना के विजय स्तम्भ रोप दिये हैं, ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। लोकमान्य तिलक ने इस बात को यों कहा था कि—गुजरात की अहिंसा-भावना जैनों की ही देन है, पर इतिहास हमें कहता है कि अहिंसामूलक धर्म वृत्ति में निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य काम कर रहा है। उन सम्प्रदायों के प्रत्येक जीवन व्यवहार की छानबीन करने से कोई भी विचारक यह सरलता से जान सकता है कि इसमें निर्ग्रन्थों की अहिंसा भाव का पुट अवश्य है।[1]

वस्तुतः निर्ग्रन्थ परम्परा के श्रमणों का अहिंसा के उत्कर्ष में विशेष अवदान रहा है। श्री हीरविजय सूरि ने भारत के मुगल सम्राट अकबर को अपने प्रभाव में खींच कर अहिंसा का दिव्य सन्देश दिया और सम्राट् से कुछ प्रमुख तिथियों पर "अमारि-घोषणा" जारी करने का वचन भी प्राप्त किया। कई मांसाहारी जातियों को अहिंसा धर्म में दीक्षित किया। भारत में बहुत-सी मांसाहारी जातियाँ आज अहिंसक जीवन बिता रही हैं, इसका श्रेय अधिकांश में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के श्रमणों को ही प्राप्त है।

मध्यकाल में कुछ ऐसे सन्त महात्माओं की अवतरणा भी हुई है कि जिनका उपदेश, वाणी व रचना अहिंसा-दया का अमृत कोष कहा जा सकता है। भारत की वायु में अहिंसा के जो परमाणु देखे जाते हैं, वे सब इन्हीं सन्त-महात्माओं की देन हैं। भारत उनके उपकारों से उपकृत है।

महात्मा गांधी ने भारत में नव जीवन का प्राण स्पन्दित करने के लिए अहिंसा का ही आश्रय ग्रहण किया था। मैं समझता हूँ गांधीजी की सफलता का रहस्य भी अहिंसा ही है, और अहिंसा के सहारे से ही वे एक बहुत बड़े राष्ट्र को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बना सके। इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी ने अहिंसा का राजनीति में प्रयोग करके भारत के अहिंसक वातावरण को और अधिक सजीव एवं व्यावहारिक बनाया है। यही नहीं, कहना चाहिए कि गांधीजी ने अहिंसा के इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ा है। उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा भगवती की प्रतिष्ठा करके उसके व्यवहार क्षेत्र में भी उत्साहजनक अभिवृद्धि की है। इस प्रकार अहिंसा के इतिहास की सुनहरी कड़ियाँ भगवान् ऋषभदेव से लेकर वर्तमान गांधी युग तक सतत् जुड़ती रही हैं।

---

१ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी) खण्ड २, पृ० सं० २७६ पं० सुखलालजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org